जैन दर्शन और योग दर्शन में कर्म-सिद्धान्त

—रत्नलाल जैन (जैन दर्शन—शोध छात्र)
(एम. ए., एम. एड.)

भारत भूमि दर्शनों की जन्म-भूमि है, पुण्यस्थली है। इस पुण्यभूमि पर न्याय, सांख्य, वेदान्त, वैशेषिक, मीमांसा, बौद्ध और जैन आदि अनेक दर्शनों का आविर्भाव हुआ। यहाँ के मनीषी दार्शनिकों ने आत्मा, परमात्मा, लोक और कर्म-पाप-पुण्य आदि महत्वपूर्ण तत्वों पर बड़ी गम्भीरता से चिन्तन-मनन और विवेचन किया है।

जैनदर्शन में 'कर्म' शब्द जिस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, उस अर्थ में अथवा उससे मिलते-जुलते अर्थ में अन्य दर्शनों में भी इन शब्दों का प्रयोग किया गया है। माया, अविद्या, प्रकृति, अपूर्व, वासना, आशय, धर्माधर्म, अदृष्ट, संस्कार, दैव, भाग्य आदि।

'माया', 'अविद्या' और 'प्रकृति' शब्द वेदान्त दर्शन में उपलब्ध हैं। 'अपूर्व' शब्द मीमांसा दर्शन में प्रयुक्त हुआ है। "वासना" शब्द बौद्धदर्शन में विशेष रूप से प्रसिद्ध है। "आशय" शब्द विशेषतः योग और सांख्य दर्शन में उपलब्ध है। "धर्माधर्म", "अदृष्ट" और "सस्कार" शब्द न्याय एवं वैशेषिक दर्शनों में प्रचलित है। "दैव", "भाग्य", "पुण्य", "पाप" आदि अनेक ऐसे शब्द हैं जिनका साधारणतया सब दर्शनों में प्रयोग किया गया है। जैन और योग दर्शनों में कर्मवाद का विचित्र समन्वय मिलता है।

कर्म की जैन परिभाषा—प्रसिद्ध आचार्य देवेन्द्रसूरि कर्म की परिभाषा करते हुए लिखते हैं—"जीव की क्रिया का जो हेतु है, वह कर्म है।" पं० सुखलाल जी कहते हैं—"मिथ्यात्व, कषाय आदि कारणों से जीव के द्वारा जो कुछ किया जाता है, वही कर्म कहलाता है। जब प्राणी अपने मन, वचन अथवा तन से किसी भी प्रकार की प्रवृत्ति करता है, तब चारों ओर से कर्म योग्य पुद्गल-परमाणुओं का आकर्षण होता है। आत्मा की राग-द्वेषात्मक क्रिया से आकाश प्रदेशों में विद्यमान अनन्तानन्त कर्म के सूक्ष्म पुद्गल चुम्बक की तरह आकर्षित होकर आत्मप्रदेशों से संश्लिष्ट हो जाते हैं, उन्हें कर्म कहते हैं।" जैन लक्षणावली में लिखा है—"अंजनचूर्ण से परिपूर्ण डिब्बे के समान सूक्ष्म व स्थूल आदि अनन्त पुद्गलों से परिपूर्ण, लोक में जो कर्मरूप में परिणत होने योग्य नियत पुद्गल जीव-परिणाम के अनुसार बन्ध को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राप्त होकर ज्ञान-दर्शन के घातक (ज्ञानावरण व दर्शनावरण तथा सुख-दुःख शुभ-अशुभ आयु, नाम, उच्च व नीच गोत्र और अन्तराय रूप) पुद्गलों को कर्म कहा जाता है।

पातंजल योग दर्शन में कर्माशय—महर्षि पतंजलि लिखते हैं—"क्लेशमूलक कर्माशय—कर्म-संस्कारों का समुदय वर्तमान और भविष्य दोनों ही जन्मों में भोगा जाने वाला है।" कर्मों के संस्कारों की जड़—अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष और अभिनिवेश ये पाँच क्लेश हैं। यह क्लेशमूलक कर्माशय जिस प्रकार इस जन्म में दुःख देता है, उसी प्रकार भविष्य में होने वाले जन्मों में भी दुःखदायक है। जब चित्त में क्लेशों के संस्कार जमे होते हैं, तब उनसे सकाम कर्म उत्पन्न होते हैं। बिना रजोगुण के कोई क्रिया नहीं हो सकती। इस रजोगुण का जब सत्व गुण के साथ मेल होता है, तब ज्ञान, धर्म, वैराग्य और ऐश्वर्य के कर्मो में प्रवृत्ति होती है। इस रजोगुण का जब तमोगुण से मेल होता है तब उसके उल्टे अज्ञान, अधर्म, अवैराग्य और अनैश्वर्य के कर्मों में प्रवृत्ति होती है। यही दोनों प्रकार के कर्म शुभ-अशुभ, पाप-पुण्य या शुक्ल-कृष्ण कहलाते हैं।

जैन दर्शन की आठ कर्म प्रकृतियाँ—जिस रूप में कर्म-परमाणु आत्मा की विभिन्न शक्तियों के प्रकटन का अवरोध करते हैं, और आत्मा का शरीर से सम्बन्ध स्थापित करते हैं तथा जिन कर्मों से बद्ध जीव संसार भ्रमण करता है, वे आठ हैं :—

१. **ज्ञानावरणीय कर्म**—यह कर्म जीव की अनन्त ज्ञान-शक्ति के प्रादुर्भाव को रोकता है।
२. **दर्शनावरणीय कर्म**—यह कर्म जीव की अनन्त दर्शन-शक्ति को प्रकट नहीं होने देता।
३. **मोहनीय कर्म**—यह कर्म आत्मा की वीतराग दशा/स्वरूपरमणता को रोकता है।
४. **अन्तराय कर्म**—यह कर्म अनन्तवीर्य को प्रकट नहीं होने देता।
५. **वेदनीय कर्म**—यह कर्म अव्याबाध सुख को रोकता है।
६. **आयुष्य कर्म**—यह कर्म शाश्वत स्थिरता को नहीं होने देता है।
७. **नाम कर्म**—यह कर्म अरूपी अवस्था नहीं होने देता।
८. **गोत्र कर्म**—यह कर्म अगुरु-लघुभाव को रोकता है।

घाति और अघाति कर्म

घाति कर्म—जो कर्म आत्मा के साथ बँध कर उसके नैसर्गिक गुणों का घात करते हैं। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय घाति कर्म हैं।

अघाति कर्म—जो आत्मा के प्रधान गुणों को हानि नहीं पहुँचाते। वेदनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र अघाति कर्म हैं।

योग दर्शन के विपाक—जाति, आयु और भोग

जब तक क्लेश रूप जड़ विद्यमान रहती है, तब तक कर्माशय का विपाक अर्थात् फल जाति, आयु और भोग होता है।

क्लेश जड़ है। उन जड़ों से कर्माशय का वृक्ष बढ़ता है। उस वृक्ष में जाति, आयु और भोग तीन प्रकार के फल लगते हैं। कर्माशय वृक्ष उसी समय तक फलता है, जब तक अविद्यादि क्लेशरूपी उसकी जड़ विद्यमान रहती है।

जैन दर्शन में बन्ध का स्वरूप—जीव और कर्म के संश्लेष को बन्ध कहते हैं। जीव अपनी वृत्तियों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से कर्म-योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है। इन ग्रहण किए हुए कर्म-पुद्गल और जीव-प्रदेशों का बन्धन —संयोग ही बन्ध है।

श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती लिखते हैं—जिन चैतन्य परिणाम से कर्म बँधता है, वह भाव-बन्ध है, तथा कर्म और आत्मा के प्रदेशों का प्रवेश, एक दूसरे में मिल जाना, एकक्षेत्रावगाही हो जाना, द्रव्यबन्ध है। कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र सूरि लिखते हैं—"जीव कषाय के कारण कर्मयोग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है, यह बन्ध है। वह जीव की अस्वतन्त्रता का कारण है।" आचार्य पूज्यपाद के अनुसार जीव और कर्म के इस संश्लेष को दूध और जल के उदाहरण से समझा जा सकता है।

योग और कषाय—बन्ध के हेतु

दूसरे रूप में—"योग प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध का हेतु है, और कषाय स्थितिबन्ध और अनुभाग बन्ध का हेतु है।" इस प्रकार योग और कषाय—ये दो बन्ध के हेतु बनते हैं। तीसरी दृष्टि से—"मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग, ये बन्ध के हेतु हैं।" इन चार बन्धहेतुओं से सत्तावन भेद हो जाते हैं।

धर्मशास्त्र, आगम में प्रमाद को भी बन्ध हेतु कहा है। श्री उमास्वाति ने पाँच बन्ध हेतु माने हैं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग।

इस प्रकार जैनदर्शन में बन्ध-हेतुओं की संख्या पाँच आस्रवों के रूप में मान्य है।

समन्वय— कर्म-बन्ध के हेतुओं की दृष्टियों का समन्वय इस प्रकार किया गया है—"प्रमाद एक प्रकार का असंयम ही है। इसलिये वह अविरति या कषाय में आ जाता है। सूक्ष्मता से देखने से मिथ्यात्व और अविरति ये दोनों कषाय के स्वरूप से भिन्न नहीं इसलिए कषाय और योग—ये दो ही बन्ध के हेतु माने हैं।"

कर्म-बन्ध के हेतु—पाँच आस्रव

पाँच आस्रव—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग बन्ध के हेतु हैं। जैन धर्म-शास्त्रों—आगमों में कर्म-बन्ध के दो हेतु कहे गये हैं—१. राग और २. द्वेष। राग और द्वेष कर्म के बीज हैं। जो भी पाप कर्म हैं, वे राग और द्वेष से अर्जित होते हैं। टीकाकार ने राग से माया और लोभ को ग्रहण किया है, और द्वेष से क्रोध और मान को ग्रहण किया है।

एक बार गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से पूछा "भगवन्! जीव कर्मप्रकृतियों का बन्ध कैसे करते हैं?" भगवान् ने उत्तर दिया—"गौतम! जीव दो स्थानों से कर्मों का बन्ध करते हैं—एक राग से और दूसरे द्वेष से। राग दो प्रकार का है—माया और लोभ। द्वेष भी दो प्रकार का है—क्रोध और मान।"

क्रोध, मान, माया और लोभ—इन चारों का संग्राहक शब्द कषाय है। इस प्रकार एक कषाय ही बन्ध का हेतु होता है।

योग दर्शन में बन्ध के मूल कारण—पाँच क्लेश—सब बन्धनों और दुःखों के मूल कारण पाँच क्लेश हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। ये पाँचों बाधनारूप पीड़ा को पैदा करते हैं। ये चित्त में विद्यमान रहते हुए संस्काररूप गुणों के परिणाम को दृढ़ करते हैं इसलिये इनको क्लेश के नाम से पुकारा जाता है।

Jain Education International	For Private & Personal Use Only	www.jainelibrary.org

सांख्य दर्शन की भाषा में इन पाँचों—अविद्या को तमस, अस्मिता को मोह, राग को महामोह, द्वेष को तमिस्र और अभिनिवेश को अन्धतामिस्र के नामों में अभिहित किया गया है।

आचार्य पूज्यपाद ने लिखा है—"मूढ़ आत्मा जिसमें विश्वास करता है, उससे अधिक कोई भयानक वस्तु नहीं। मूढ़ आत्मा जिससे डरता है, उससे बढ़कर शरण देने वाली वस्तु इस संसार में नहीं है।"

भयंकर वस्तु में विश्वास करना और अभयदान करने वाली वस्तुओं से दूर भागना—यह उस समय होता है जब आत्मा मूढ़ हो, दृष्टिकोण मिथ्या हो, अविद्या और अज्ञान और मोह से व्यक्ति ग्रसित हो।

मिथ्यात्व और अविद्या—

मिथ्यात्व—मिथ्यात्व का अर्थ है मिथ्यादर्शन; जो कि सम्यग्दर्शन से उलटा होता है। जो बात जैसी हो, उसे वैसी न मानना या विपरीत मानना मिथ्यात्व है।

मिथ्यात्व के दस रूप—मिथ्यात्व, विपरीत तत्व-श्रद्धा के दस रूप बनते हैं—

१. अधर्म में धर्म संज्ञा। २. धर्म में अधर्म संज्ञा। ३. अमार्ग में मार्ग संज्ञा। ४. मार्ग में अमार्ग संज्ञा। ५. अजीव में जीव संज्ञा। ६. जीव में अजीव संज्ञा। ७. असाधु में साधु संज्ञा। ८. साधु में असाधु संज्ञा। ९. अमुक्त में मुक्त संज्ञा। १०. मुक्त में अमुक्त संज्ञा।

अविद्या—जिसमें जो धर्म नहीं है, उसमें उसका भान होना अविद्या का सामान्य लक्षण है।

अविद्या के पाद—योग दर्शन के अनुसार पशु के तुल्य अविद्या के भी चार पाद हैं—

१. अनित्य में नित्य का ज्ञान। २. अपवित्र में पवित्रता का ज्ञान। ३. दुःख में सुख का ज्ञान। ४ अनात्म (जड़) में आत्म का ज्ञान।

अविरति—विरति का अभाव, व्रत या त्याग का अभाव, दोषों से विरति न होना। पौद्गलिक सुखों के लिये व्यक्त या अव्यक्त पिपासा।

मनोविज्ञान ने मन के तीन विभाग किये हैं—

१. अदस् मन (Id), २. अहं मन (Ego), ३. अधिशास्ता मन (Super Ego)।

अदस् मन—इसमें आकांक्षाएँ पैदा होती हैं। जितनी प्रवृत्त्यात्मक आशा अकांक्षाएँ और इच्छाएँ हैं वे सभी इसी मन में पैदा होती हैं।

अहं मन—समाज व्यवस्था से जो नियन्त्रण प्राप्त होता है, उससे आकांक्षाएँ यहाँ नियन्त्रित हो जाती हैं और वे कुछ परिमार्जित हो जाती हैं। उन पर अंकुश जैसा लग जाता है। अहं मन इच्छाओं को क्रियान्वित नहीं करता है।

अधिशास्ता मन—यह अहं पर भी अंकुश रखता है, और उसे नियन्त्रित करता है।

अविरति अर्थात् छिपी हुई चाह, सुख-सुविधा को पाने की चाह और कष्ट को मिटाने की चाह। यह जो विभिन्न प्रकार की आन्तरिक चाह है, आकांक्षा है—इसे कर्मशास्त्र की भाषा में अविरति आस्रव कहा है। इसे मनोविज्ञान की भाषा में अदस् मन कहा गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कषाय—राग और द्वेष

उमास्वाति कहते हैं—"कषाय भाव के कारण जीव कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है, वह बन्ध कहलाता है।"

आत्मा में राग या द्वेष भावों का उद्दीप्त होना ही कषाय है। राग और द्वेष—दोनों कर्म के बीज हैं। जैसे दीपक अपनी ऊष्मा से बत्ती के द्वारा तेल को आकर्षित कर उसे अपने शरीर (लौ) के रूप में बदल लेता है, वैसे ही यह आत्मा रूपी दीपक अपने रागभावरूपी ऊष्मा के कारण क्रियाओं रूपी बत्ती के द्वारा कर्म-परमाणुओं रूपी तेल को आकर्षित कर उसे अपने कर्म शरीररूपी लौ में बदल देता है।

राग-क्लेश—सुख भोगने की इच्छा राग है—जीव को जब कभी जिस-जिस किसी अनुकूल पदार्थ में सुख की प्रतीति हुई है या होती है, उसमें और उसके निमित्तों में उसकी आसक्ति-प्रीति हो जाती है, उसी को राग कहते हैं। वाचकवर्य श्री उमास्वाति कहते हैं—इच्छा, मूर्च्छा, काम, स्नेह, गृद्धता, ममता, अभिनन्द—प्रसन्नता और अभिलाषा आदि अनेक राग भाव के पर्यायवाची शब्द हैं।

द्वेष-क्लेश—पातंजल योग-दर्शन में लिखा है कि दुःख के अनुभव के पीछे जो घृणा की वासना चित्त में रहती है, उसे द्वेष कहते हैं। जिन वस्तुओं अथवा साधनों से दुःख प्रतीत हो, उनसे जो घृणा या क्रोध हो, उनके जो संस्कार चित्त में पड़े हों उसे द्वेष—क्लेश कहते हैं।

प्रशमरति में लिखा है—"ईर्ष्या, रोष, द्वेष, दोष, परिवाद, मत्सर, असूया, वैर, प्रचण्डन आदि शब्द द्वेषभाव के पर्यायवाची शब्द हैं। प्रमाद, अस्मिता और अभिनिवेश का समावेश भी राग-द्वेष में हो जाता है।

चार कषाय के बावन नाम

कषाय चार हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। समवायांग—५२ में चार कषाय रूप मोह के ५२ नाम कहे गए हैं—जिन में क्रोध के दस, मान के ग्यारह, माया के सत्रह, और लोभ के चौदह नाम बताए गए हैं जो इस प्रकार हैं—

क्रोध—१. क्रोध, २. कोप, ३. रोष, ४. दोष, ५. अक्षमा, ६. संज्वलन, ७. कलह, ८. चांडिक्य, ९. भंडण और १०. विवाद।

मान—१. मान, २. मद, ३. दर्प, ४. स्तम्भ, ५. आत्मोत्कर्ष, ६. गर्व, ७. पर-परिवाद, ८. आक्रोश, ९. अपकर्ष, १०. उन्नत और ११. उन्नाम।

माया—१. माया, २. उपाधि, ३. निकृति, ४. वलय, ५. ग्रहण, ६. न्यवम, ७. कल्क, ८. कुरूक, ९. दम्भ, १०. कूट, ११. वक्रता, १२. किल्विष, १३. अनादरता, १४. गूहनता, १५. वंचनता, १६. परिकुञ्चनता, १७. सातियोग।

लोभ—१. लोभ, २. इच्छा, ३. मूर्च्छा, ४. कांक्षा, ५. गृद्धि, ६. तृष्णा, ७. भिध्या, ८. अभिध्या, ९. कामाशा, १०. भोगाशा, ११. जीविताशा, १२. मरणाशा, १३. नन्दी और १४. राग।

आस्रव और कर्माशय—आस्रव काय, वचन और मन की क्रिया योग है। वही कर्म का सम्बन्ध कराने वाला होने के कारण आस्रव कहलाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कषाय सहित और रहित आत्मा का योग क्रमशः साम्परायिक और ईर्यापथ कर्म का बन्ध हेतु आस्रव होता है।

जिन जीवों में क्रोध-मान-माया-लोभ आदि कषायों का उदय हो, वह कषाय सहित हैं।

पहले से दसवें गुणस्थान तक के जीव न्यूनाधिक मात्रा में कषायसहित हैं और ग्यारहवें-आदि आगे के गुणस्थानों वाले जीव कषाय रहित हैं।

कर्माशय क्लेशमूल—

पाँच क्लेश जिसकी जड़ है, ऐसी कर्म की वासना वर्तमान और भविष्य में होने वाले दोनों जन्मों में भोगा जाने के योग्य है। जिन महान योगियों ने क्लेशों को निर्बीज समाधि द्वारा उखाड़ दिया है, उनके कर्म निष्काम अर्थात् वासनारहित केवल कर्तव्य-मात्र रहते हैं, इसलिए उनको इसका फल भोग्य नहीं हैं। जब क्लेशों के संस्कार चित्त में जमे हों तब उनसे सकाम कर्म उत्पन्न होते हैं।

शुभ-अशुभ आस्रव—पुण्य-पाप कर्म—शुभ योग पुण्य का बन्ध हेतु है और अशुभ योग पाप का बन्ध-हेतु है। पुण्य का अर्थ है, जो आत्मा को पवित्र करे। अशुभ-पाप कर्मों से मलिन हुई आत्मा क्रमशः शुभ कर्मों का—पुण्य कर्मों का अर्जन करती हुई पवित्र होती है, स्वच्छ होती है।

आचार्य कुन्दकुन्द लिखते हैं—"जिसके मोह-राग-द्वेष होते हैं, उसके अशुभ परिणाम होते हैं। जिसके चित्त प्रसाद—निर्मल चित्त होता है, उसके शुभ परिणाम होते हैं। जीव के शुभ परिणाम पुण्य हैं और अशुभ परिणाम पाप। शुभ-अशुभ परिणामों में से जीव के जो कर्म-वर्गणा योग्य पुद्गलों का ग्रहण होता है, वह क्रमशः द्रव्य पुण्य-द्रव्य पाप है।

योग दर्शन के अनुसार "वे जन्म, आयु और भोग—सुख-दुःख फल के देने वाले होते हैं, क्योंकि उनके पुण्य कर्म और पापकर्म दोनों ही कारण हैं।"

आठ कर्मों में पुण्य-पाप-प्रकृतियाँ—

प्रत्येक आत्मा में सत्तारूप से आठ गुण विद्यमान हैं—

१. अनन्त ज्ञान
२. अनन्त दर्शन
३. क्षायिक सम्यक्त्व
४. अनन्तवीर्य
५. आत्मिक सुख
६. अटल अवगाहन
७. अमूर्तिकत्व
८. अगुरुलघुभाव

कर्मावरण के कारण ये गुण प्रकट नहीं हो पाते। जीव द्वारा बाँधे जाने वाले आठ कर्म हैं—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अन्तराय, वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र—ये ही क्रमशः आत्मा के आठ गुणों को प्रकट होने नहीं देते।

कर्मों की मूल प्रकृतियों, उत्तरप्रकृतियों में पुण्य पाप का विवेचन निम्न प्रकार मिलता है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूल प्रकृतियाँ	उत्तर प्रकृतियाँ	पाप प्रकृतियां	पुण्य प्रकृतियाँ
१. ज्ञानावरणीय	५	५	—
२. दर्शनावरणीय	९	९	—
३. वेदनीय	२	१ (असाता)	१ (साता)
४. मोहनीय	२८	२६	२
५. आयुष्य	४	१ (नरक)	३ (देव, मनुष्य, तिर्यन्च)
६. नाम	४२	३४	८ (उच्च)
७. गोत्र	२	१ (नीच)	१ (उच्च)
८. अन्तराय	५	५	—
	९७	८२	१५

पुण्य-शुभ कर्म है, किन्तु अकाम्य है, हेय है :—

योगीन्दु कहते हैं—"पुण्य से वैभव, वैभव से अहंकार, अहंकार से बुद्धिनाश और बुद्धिनाश से पाप होता है, अतः हमें वह नहीं चाहिये।" आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं—"अशुभ कर्म कुशील है—बुरा है और शुभ कर्म सुशील है—अच्छा है, ऐसा जगत् मानता है। परन्तु जो प्राणी को संसार में प्रवेश कराता है, वह शुभ कर्म सुशील, अच्छा कैसे हो सकता है ? जैसे लोहे की बेड़ी पुरुष को बाँधती है और सुवर्ण की भी बाँधती है, उसी तरह शुभ और अशुभ कृत कर्म जीव को बाँधते हैं। अतः जीव ! तू दोनों कुशीलों से प्रीति अथवा संसर्ग मत कर। कुशील के साथ संसर्ग और राग से जीव की स्वाधीनता का विनाश होता है। जो जीव परमार्थ से दूर हैं, वे अज्ञान से पुण्य को अच्छा मानकर उसकी कामना करते हैं। पर पुण्य संसार गमन का हेतु है, अतः तू पुण्य कर्म में प्रीति मत कर।"

पुण्य काम्य नहीं है। पुण्य की कामना पर-समय है। योगीन्दु कहते हैं—"वे पुण्य किस काम के जो राज्य देकर जीव को दुःख परम्परा की ओर धकेल दें। आत्म-दर्शन की खोज में लगा हुआ व्यक्ति मर जाए—यह अच्छा है, किन्तु आत्मदर्शन की खोज से विमुख होकर पुण्य चाहे—वह अच्छा नहीं है।"

सुखप्रद कर्माशय भी दुःख है—महर्षि पतंजलि लिखते हैं—"परिणाम-दुःख, पाप-दुःख और संस्कार-दुःख—ये तीन प्रकार के दुःख सब में विद्यमान रहने के कारण और तीनों गुणों की वृत्तियों में परस्पर विरोध होने के कारण विवेकी पुरुष के लिये सब के सब कर्मफल दुःख रूप ही है।" परिणाम-दुःख जो कर्म विपाक भोग काल में स्थूल दृष्टि से सुखद प्रतीत होता है, उसका परिणाम दुःख ही है। जैसे स्त्री प्रसंग के समय मनुष्य को सुख भासता है, परन्तु उसका परिणाम—बल, वीर्य, तेज, स्मृति आदि का ह्रास प्रत्यक्ष देखने में आता है। इसी प्रकार दूसरे भोगों में भी समझ लेना चाहिये।

गीता में भी कहा है—"जो सुख विषय और इन्द्रियों के संयोग से होता है, वह यद्यपि भोग काल में अमृत के सदृश भासता है, परन्तु परिणाम में विष के तुल्य है, इसलिये वह सुख राजस कहा गया है।" विवेकी पुरुष परिणाम-दुःख, ताप-दुःख, संस्कार-दुःख तथा गुणवृत्तियों के निरोध से होने वाले दुःख को विवेक के द्वारा समझता है। उसकी दृष्टि में सभी कर्म विपाक दुःख रूप है। साधारण जनसमुदाय जिन भोगों को सुखरूप समझता है विवेकी के लिये वे भी दुःख ही हैं। गीता में लिखा है—"इन्द्रियों और विषयों के संयोग से उत्पन्न होने वाले जितने भी भोग हैं, वे सब के सब दुःख के ही कारण हैं।" ज्ञानी कहते हैं—काम-भोग शल्यरूप हैं, विषरूप हैं, जहर के सदृश हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संवर—आस्रव का निरोध,

योग—चित्त वृत्ति का निरोध—

संवर—वाचक उमास्वाति लिखते हैं—"आस्रव-द्वार का निरोध करना संवर है।" आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं—"जो शुभ-अशुभ कर्मों के आगमन के लिये द्वार रूप है, वह आस्रव है, जिसका लक्षण आस्रव का निरोध करना है, वह संवर है।"

आचार्य हेमचन्द्र सूरि का कथन है—"जो सर्व आस्रवों के निरोध का हेतु है, उसे संवर कहते हैं।"

"जिस तरह नौका में छिद्रों से जल प्रवेश पाता है और छिद्रों को रूँध देने पर थोड़ा भी जल प्रविष्ट नहीं होता, वैसे ही योगादि आस्रवों को सर्वतः अवरुद्ध कर देने पर संवृत जीव के प्रदेशों में कर्म द्रव्यों का प्रवेश नहीं होता।"

योग चित्तवृत्तियों का निरोध—महर्षि पतंजलि लिखते हैं—योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः, "चित्त की वृत्तियों का रोकना योग है।" चित्त की वृत्तियाँ जो बाहर को जाती हैं, उन बहिर्मुख वृत्तियों को सांसारिक विषयों से हटाकर उससे उल्टा अर्थात् अन्तर्मुख करके अपने कारण चित्त में लीन कर देना योग है।

चित्त मानो अगाध परिपूर्ण सागर का जल है। जिस प्रकार वह पृथ्वी के सम्बन्ध से खाड़ी, झील आदि के आन्तरिक तदाकार परिणाम को प्राप्त होता है, उसी प्रकार चित्त आन्तर-राग-द्वेष काम-क्रोध, लोभ-मोह, भय आदि रूप आकार से परिणत होता रहता है तथा जिस प्रकार वायु आदि के वेग से जलरूपी तरंग उठती हैं, इसी प्रकार चित्त इन्द्रियों द्वारा बाह्य विषयों से आकर्षित होकर उन जैसे आकारों में परिणत होता रहता है। ये सब चित्त की वृत्तियाँ कहलाती हैं, जो अनन्त हैं और प्रतिक्षण उदय होती रहती हैं।

"वृत्तियाँ पाँच प्रकार की हैं—क्लिष्ट अर्थात् राग-द्वेषादि क्लेशों की हेतु और अक्लिष्ट अर्थात् राग-द्वेषादि क्लेशों का नाश करने वाली।" "पाँच प्रकार की वृत्तियाँ इस प्रकार हैं—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति।"

पाँच महाव्रत एवं पाँच सार्वभौम यम

जैनदर्शन में आत्मसाधना—आस्रवनिरोध के लिये पाँच महाव्रतों की पालना के लिये विधान है, इसी प्रकार योग-दर्शन में योग की साधना के लिये पाँच सार्वभौम यमों की प्रतिष्ठा की गई है। हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह से (मन, वचन और काय द्वारा) निवृत्त होना व्रत है। "अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच यम हैं।"

मन से, वचन से और शरीर से (कर्म से) सभी प्राणियों की किसी प्रकार से (करना, कराना, अनुमोदन करना) हिंसा—कष्ट न पहुँचाना अहिंसा है। "भगवान महावीर ने कहा है—हे मानव ! तू दूसरे जीवों की आत्मा को भी अपनी ही आत्मा के समान समझकर हिंसा कार्य में प्रवृत्त न हो……। हे पुरुष ! जिसे तू मारने की इच्छा करता है, विचार कर, वह तेरे जैसा ही सुख-दुःख का अनुभव करने वाला प्राणी है। जो हिंसा करता है उसका फल बाद में वैसा ही भोगना पड़ता है। अतः मनुष्य किसी भी प्रकार प्राणी की हिंसा करने की कामना न करे।"

इसी प्रकार सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह महाव्रतों, यमों की तीन करण व तीन योग—मन, वचन और काय से पालना करनी चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निर्जरा के बारह भेद, अष्टांग योग :—

निर्जरा-तप—भगवान महावीर ने कहा है—जिस तरह जल आने के मार्ग को रोक देने पर बड़ा तालाब पानी के उलीचे जाने और सूर्य के ताप से क्रमशः सूख जाता है, उसी प्रकार आस्रव—पाप कर्म के प्रवेश मार्गों को रोक देने वाले संयमी पुरुष के करोड़ों जन्मों के संचित कर्म तप के द्वारा जीर्ण होकर झड़ जाते हैं। निर्जरा तप के बारह (छह बहिरंग और छह आभ्यन्तर) अंग हैं—

१. अनशन—	उपवास आदि तप
२. ऊनोदरी	कम खाना, मिताहार
३. भिक्षाचरी—	जीवन निर्वाह के साधनों का संयम
४. रस-परित्याग—	सरस अहार का परित्याग
५. कायक्लेश—	आसनादि क्रियाएँ
६. प्रतिसंलीनता—	इन्द्रियों को विषयों से हटाकर अन्तर्मुखी करना
७. प्रायश्चित्त—	पूर्वकृत दोष विशुद्ध करना
८. विनय—	नम्रता
९. वैयावृत्य—	साधकों को सहयोग देना
१०. स्वाध्याय—	पठन-पाठन
११. ध्यान—	चित्तवृत्तियों को स्थिर करना
१२. व्युत्सर्ग—	शरीर की प्रवृत्ति को रोकना।

अष्टांग योग—महर्षि पतंजलि ने लिखा है—"योग के अंगों का अनुष्ठान करने से—आचरण करने से अशुद्धि का नाश होने पर ज्ञान का प्रकाश विवेकख्याति तक प्राप्त होता है।"

योग दर्शन में योग के आठ अंग माने गये हैं—

१. यम २. नियम ३. आसन ४. प्राणायाम ५. प्रत्याहार ६. धारणा ७. ध्यान ८. समाधि।

यम—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह ये पाँच यम हैं।

नियम—शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान—ये पाँच नियम हैं।

आसन—निश्चल—हलन-चलन से रहित सुखपूर्वक बैठने का नाम आसन है।

प्राणायाम—श्वास और प्रश्वास की गति का नियमन प्राणायाम है।

प्रत्याहार—अपने विषयों के सम्बन्ध से रहित होने पर इन्द्रियों का चित्त के स्वरूप में तदाकार हो जाना प्रत्याहार है।

धारणा—किसी एक देश में चित्त को ठहराना धारणा है।

ध्यान—चित्त में वृत्ति का एकतार चलना ध्यान है।

समाधि—जब ध्यान में केवल ध्येय मात्र की प्रतीति होती है और चित्त का निज स्वरूप शून्य सा हो जाता है, तब वही ध्यान समाधि हो जाता है।

केवलज्ञान और विवेक जन्य ज्ञान और मोक्ष—

केवलज्ञान—वाचक उमास्वाति लिखते हैं—"मोह कर्म के क्षय से तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मों के क्षय से केवलज्ञान प्रकट होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रतिबन्धक कर्म चार हैं, इन में से प्रथम मोहनीय कर्म क्षीण होता है, तदन्तर अन्तर्मुहूर्त्त बाद ही ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय—इन तीन कर्मों का क्षय होता है। इस प्रकार मोक्ष प्राप्त होने से पहले केवल उपयोग—सामान्य और विशेष दोनों प्रकार का सम्पूर्ण बोध प्राप्त होता है। यही स्थिति सर्वज्ञत्व और सर्वदर्शित्व की है।

विवेकजन्य तारक ज्ञान—

महर्षि पतंजलि लिखते हैं—"जो संसार समुद्र से तारने वाला है, सब विषयों को, सब प्रकार से जानने वाला है, और बिना क्रम के जानने वाला है, वह विवेक जनित ज्ञान है।"

"बुद्धि और पुरुष—इन दोनों की जब समभाव से शुद्धि हो जाती है, तब कैवल्य होता है।"

इस प्रकार बन्धहेतुओं के अभाव और निर्जरा से कर्मों का आत्यन्तिक क्षय होता है। सम्पूर्ण कर्मों का क्षय होना ही मोक्ष है।

पता—गली आर्य समाज
जैन धर्मशाला के पास
हांसी (हिसार) १२५०३३

卐 卐

नाव रहेगी तो पानी में ही रहेगी। आप और हमको, जब तक मोक्ष नहीं होगा""मोक्ष की साधना संसार में रहकर ही करनी होगी। संसार इतना बुरा नहीं है। तीर्थंकर, सन्त, साधुपुरुष, सब इस संसार में ही तो जन्मे हैं। उन्होंने संसार में रहकर ही तो साधना की है। यहीं रहकर तीर्थंकर बने, सन्त बने, महापुरुष बने, ब्रह्मचारी बने, सदाचारी बने। सच तो यह है कि बाह्य संसार इतना बुरा नहीं है। अन्दर का संसार बुरा है। संसार बुरा नहीं है, संसार का भाव बुरा है। हम संसार में भले रहें, किन्तु संसार हमारे अन्दर नहीं रहना चाहिए। संसार का अन्दर रहना ही बुरा है। पाप का कारण है, कर्म-बन्धन का हेतु है। नाव पानी में रहती है, बैठने वाले को तिराती है, स्वयं भी तिरती है। जब तक नाव पानी के ऊपर बहती रहती है, तब तक बैठने वाले को कोई खतरा नहीं। नाव पानी में भले रहे, किन्तु पानी नाव में नहीं रहना चाहिए, नहीं भरना चाहिए। जब पानी नाव में भरना शुरू हो जाता है तब खतरा पैदा हो जाता है। नाव के डूबने का डर रहता है। मरने की स्थिति आ जाती है, क्योंकि नाव पानी से भारी हो गई है।

—आचार्य श्री जिनकान्तिसागर सूरि

('उठ जाग मुसाफिर भोर भई' पुस्तक से)

卐 卐

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org